

# आदिवासी का अस्तित्व जल, जंगल और जमीन से ही संभव : सामयिक संदर्भ में एक अध्ययन

## सारांश

आदिवासी समाज, भाषा और संस्कृति तथा उनसे संबंधित समस्याओं और मुद्दों पर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करना समय की मांग है। आज आदिवासी जिस दौर से गुजर रहा है, वह उसके लिए जिन्दगी की जंग का दौर है। आज नीति निर्माण में, देश के विकास की अवधारणा और विकास मानदण्डों में आदिवासी समाज, परिवेश तथा परिस्थितियों को ध्यान में न रखना सबसे बड़ी विडंबना है। जल, जंगल, जमीन, पर्यावरण, प्रकृति आदिवासी के लिए जीवन का पर्याय है। आदिवासी आधुनिक कही जाने वाली सभ्यता से दूर बीहड़ वीरानों, जंगलों, पहाड़ों बियाबानों में छोटी-छोटी बस्तियों के हरे भरे टिकानों, घास-फूस के कच्चे आशियानों में रह कर अपना जीवन यापन करता रहा है। देश के आदिवासी और जल, जमीन, जंगल बहुल इलाकों में सरकार के लिए विकास के नाम पर आवश्यक हो गया है कि वह वहाँ के सदियों के बाशियों को उजाड़कर जमीन सरकारी संस्थानों, उद्योगपतियों, निजी कंपनियों को कोड़ी के भाव दी जाए। जीवन और पर्यावरण के आधार जंगलों की अंधाधुंध कटाई और विनाश तथा उसकी जगह पूँजीवादी घरोंदे और कंकरीट के जंगल खड़े किये जा रहे हैं और किसानों तथा आदिवासियों के गाँव-के-गाँव उजाड़े जा रहे हैं। आदिवासियों द्वारा विरोध में आवाज उठाने पर उनके साथ बर्बरतापूर्वक व्यवहार किया जाता है। परिणामस्वरूप आदिवासी समाज ने अपनी सामूहिक पहचान और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत खोई है और उनके हिस्से में कुछ न आकर केवल पलायन, विस्थापन, गरीबी, कुपोषण, मृत्यु-दर में वृद्धि, अशिक्षा, बेरोजगारी, ऋण एवं खेतिहर मजदूरी आई। सरकार की गलत नीतियों के कारण विकास और आदिवासी दोनों विरोधी माने जाने लगे हैं। आदिवासी इलाकों में भू-माफियाओं और सरकार की मिलीभगत से अवैध खनन के चलते पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, वन संरक्षण अधिनियम, केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड, खान अधिनियम के साथ-साथ उच्चतम न्यायालय के आदेशों की धज्जियाँ उड़ाकर रख दी है। खनन कारोबारी, नौकरशाही और भ्रष्ट सियासी लीडरों का नापाक गठबंधन सारे कायदे-कानूनों को धता बताकर सरकार की नाक के नीचे अवैध खनन करता रहता है।...यदि कहीं कोई कार्यवाही भी होती है तो सिर्फ देखने दिखाने को। परियोजना और विकास के नाम पर आदिवासियों की जमीनों को छीनकर, अवैध खनन व भूमिफियाओं को छूट देकर आदिवासियों को बेदखल करना, उन पर हिंसात्मक कार्यवाहियाँ करना, विस्थापित और पलायन के लिए मजबूर करना, उन्हें खेती, जल, जंगल, जमीन विहिन करना वर्तमान ऐसी सच्चाई है जिसे नकार नहीं जा सकता। मूलतः जल, जंगल, जमीन से बेदखल कर आदिवासी और आदिवासी संस्कृति को नहीं बचाया जा सकता।

**मुख्य शब्द** : जल, जंगल, जमीन, नक्सलवाद, आदिवासी, समाज, संस्कृति, विस्थापन, बेदखल, पलायन, शोषण, बेरोजगार, गरीबी, भूखमरी, अवैध खनन, विकास-मॉडल, पूँजीपति, उद्योगपति, भू-माफिया, पर्यावरण, प्रदूषण, संरक्षण।

## प्रस्तावना

जल, जंगल, जमीन के साथ आदिवासी का रिश्ता आदिकाल से ही रहा है। जल, जंगल, जमीन, पर्यावरण, प्रकृति उनके लिए जीवन का पर्याय है। आदिवासी आधुनिक कही जाने वाली सभ्यता से दूर बीहड़ वीरानों, जंगलों, पहाड़ों बियाबानों में छोटी-छोटी बस्तियों के हरे भरे टिकानों, घास-फूस के कच्चे आशियानों में रह कर जीवन यापन करता रहा है। वे उसी में खुश है। उसके लिए कंक्रीट के जंगल कोई मायने नहीं रखते। कवि मानस की ये



**सियाराम मीणा**

एसोसिएट प्रोफेसर,  
हिन्दी विभाग,  
राजकीय महाविद्यालय,  
बूंदी, राजस्थान

प्राकृतिकों तो यही कहती है— 'प्रकृति की गोद में बसे छाते से गांवों में/अलमस्त चौपालों अलाव के ठावों में/घने वृक्षों की शीतल छावों में/मधुर बंशी की धुन की ऊँची-ऊँची तानों में/कुछ गाय भेड़ बकरियाँ/कुछ मुर्गियाँ, थोड़ी खेती बड़ी, थोड़ी महुआ ताड़ी/जंगलों से चलती इनकी जीवन गाड़ी/सजे संवरे रहते ये तीर कमानों में/खुश है वो बहुत खुश प्राकृतिक वातावरण में/जंगल के ठौर ठिकानों में।'<sup>1</sup> सदियों से प्रकृति की गोद में अलग सामुदायिक और सांस्कृतिक जीवन जीने के कारण इन्होंने अपने आपको प्राकृतिक जीवन शैली में ढाल लिया है कि इन्हें यह कंकरीट और कृत्रिम सभ्यता अच्छी नहीं लगती। 'आदिवासी हमारे देश में अलग-अलग राज्यों में विभिन्न स्वरूपों में उपस्थित हैं। यह अपनी अलग संस्कृति, भाषा, रंग, धार्मिक एवं सामाजिक संरचना के माध्यम से अपना पुरातन अस्तित्व संजोये हैं। आधुनिक जीवन की विकास प्रक्रिया से लगभग अप्रभावित यह आदिवासी समुदाय आज भी अपने सदियों पुराने पारंपरिक जीवन को जीते हैं।'<sup>2</sup> प्रकृति का सहचर्य इनकी संस्कृति और जीवन शैली का प्राण है।

#### अध्ययन का उद्देश्य

आदिवासी समाज, भाषा, संस्कृति, समस्याओं, प्रतिरोध और मुद्दों पर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करना समय की मांग है। आज आदिवासी जिस दौर से गुजर रहा है, वह उसके लिए जिन्दगी की जंग का दौर है। आज नीति निर्माण में, देश के विकास की अवधारणा में आदिवासी समाज तथा उसकी परिवेशगत परिस्थितियों को ध्यान में न रखना सबसे बड़ी विडंबना है। मुख्यधारा का साहित्य, सूचना तंत्र व मीडिया की नजर में आदिवासी की समस्या कोई मुद्दा ही नहीं है जिसके लिए उसे जगह दी जाए। एक तरह से आदिवासी अकेला है। इसलिए आदिवासी विषयों पर साहित्य सृजन व शोधकार्य करना आज के समय की मांग है। जल, जंगल, जमीन के संरक्षण और रक्षा का सवाल आदिवासियों के जीवन से जुड़ा हुआ है। यदि आदिवासी को बचाना है, उसके होने को संभव बनाना है, तो जल, जंगल, जमीन को बचाना होगा। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य जल, जंगल, जमीन और आदिवासी के अंतःसंबंधों तथा वर्तमान में इससे संबंधित समस्याओं के विविध आयामों पर विचार करना तथा उक्त मुद्दों पर शोधात्मक अनुशीलन करना है, जो पूर्णतः प्रासंगिक है।

#### साहित्यव्लोकन

आदिवासी विषयों व समस्याओं पर आज लिखा जा रहा है, मुख्यधारा का साहित्य जिस पर चुप ही रहा है। आदिवासी मुद्दों पर आलोचनात्मक और सृजनात्मक साहित्य लेखन करने वालों की एक शृंखला बनने लगी है। गोपीनाथ महंती, योगेन्द्र नाथ सिन्हा, संजीव, मनमोहन पाठक, विनोद कुमार, रणेन्द्र, प्रो.वीरभारत तलवार, रमणिका गुप्ता, रामदयाल मुण्डा, ग्रेस कुजूर, सरिता सिंह बड़ाईक, रोज केरकेट्टा, वंदना टेटे, हरिराम मीणा, रमेशचन्द्र मीणा, शंकर लाल मीणा, महाश्वेता देवी आदि तथा पत्र-पत्रिकाओं में हंस, कथादेश, पाखी, परिकथा, कथाक्रम, अखड़ा, युद्धरत आम आदमी, दलित अस्मिता, अरावली उद्घोष आदि में आदिवासियों पर बराबर लिखा

जा रहा है। इन प्रयासों से आदिवासी-विमर्श ने अपना स्थान बनाया है। प्रस्तुत शोध-पत्र में विशेषकर युद्धरत आम आदमी पत्रिका 2016, 2017, 2018 के अंको, समकालीन जनमत के 2012, 2017, 2015, 2018 के अंक तथा पुस्तकों में 'आदिवासी विमर्श:स्वस्थ जनतांत्रिक मूल्यों की तलाश' सं. वीरेन्द्र सिंह यादव, डॉ.रावेन्द्र सिंह साहू पैसिफिक पब्लिकेशन, दिल्ली प्र.सं. 2012, 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी' : सं. रमणिका, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय सं.-2008, 'आदिवासी विमर्श : डॉरमेशचन्द्र मीणा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्र.सं. 2013, 'आदिवासी दस्तक : विचार परम्परा और साहित्य' डॉ. रमेशचन्द्र मीणा, एवं 'समकालीन आदिवासी कविता' : सं. हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन जयपुर प्र.सं. 2013 आदि प्रमुख हैं, जिन्होंने शोध कार्य के लिए आधार सामग्री का कार्य किया है। शोध कार्य में नवीनता, प्रामाणिकता, तथ्यात्मकता और मौलिकता का पूरा ध्यान रखा गया है।

#### जल, जंगल, जमीन और आदिवासी : सामयिक परिदृश्य

आदिवासी ने जीवन के आधार जंगल, जल, जमीन की कीमत को पहचाना है, उसे पूजा है, उसे समृद्ध किया है, उसी की अनुमति से उससे जीवन चलाया है, पर नुकसान नहीं पहुंचाया है। लेकिन आज की साम्राज्यवादी, पूँजीवादी और उपभोक्तावादी सोच में ऐसा नहीं है। जिस तरह आदिवासी जल, जंगल, जमीन पर निर्भर है उस रूप में तथाकथित सभ्य समाज जंगल पर निर्भर नहीं है, पर फिर भी जंगलों को बर्बाद किये बिना उसकी इच्छाएं पूरी नहीं हो पा रही है, वह जंगल, जल, जमीन और आदिवासियों की अस्मिता की कीमत पर पूँजीवादी खेल को खेलना चाहती है। आदिवासी इलाकों के जल, जंगल, जमीन देखते ही इनकी लूट की भूख जाग्रत हो जाती है। उन्हें वहाँ अरक्षित, बिना रखवालों का खजाना दिखाई देती है। यदि सरकार का आशीर्वाद मिल जाए तो फिर यह उनके लिए लूट का खजाना<sup>3</sup> ही है। आज विकास के नाम पर देश की बेशकमती जमीन और जंगल दलालों की गिरफ्त में है, ग्रामीण और आदिवासियों की जान मुट्ठी में है। देश के आदिवासी और जल, जमीन, जंगल बहुल इलाकों में सरकार के लिए विकास के नाम पर आवश्यक हो गया है कि वह वहाँ के सदियों के बाशिंदों को उजाड़कर जमीन सरकारी संस्थानों, उद्योगपतियों, निजी कंपनियों को कोड़ी के भाव दी जाए। जीवन और पर्यावरण के आधार जंगलों की अंधाधुंध कटाई और विनाश तथा उसकी जगह पूँजीवादी घरोंदे और कंकरीट के जंगल खड़े किये जा रहे हैं और किसानों तथा आदिवासियों के गांव-के-गांव उजाड़े जा रहे हैं। 'जंगल बना जंगल' कविता में सत्येन्द्र कुमार रघुवंशी ने इस सच्चाई को इस प्रकार व्यक्त किया है— इस पेड़ को काट डालो/यहां लगाया जायेगा टेलीफोन का खम्भा/इन पेड़ों को भी काट डालो/यहां बनेगा आधुनिक किस्म का वातानुकूलित व्यावसायिक केन्द्र/इस समूचे बाग को काट डालो/यहां बनेगी वन विभाग के अधिकारियों के लिए/भव्य आवासीय कॉलोनी/पूरे जंगल की हत्या कर दो/यह जरूरी है सीमेंट का/एक नया जंगल खड़ा करने के लिए।<sup>4</sup>

आज सरकार के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह विकास के नाम पर, परियोजनाओं के नाम पर, उद्योगपतियों के प्रति कृपादृष्टि के नाम पर, मुल्क की तरक्की के नाम पर आदिवासियों की आजीविका के आधारभूत श्रोतों को छीनकर उन्हें पलायन और विस्थापित होने के लिए मजबूर किया जाए। इस पलायन और विस्थापन ने आदिवासी को बर्बाद कर दिया है। यथा—“मुल्क की तरक्की के लिए/आज भी जरूरी हैं हम,/इस भयानक रफ्तार से भागती/बदहवाश दुनिया में/पूरी तरह निरर्थक नहीं हुए हम/हमें दूह कर, पीस कर, घोट कर,/खा-पीकर,/हमारा देश, कर रहा है तरक्की!<sup>6</sup> देश की पूँजीवादी सोच धीरे-धीरे योजनाबद्ध तरीके से जंगल और जमीन को हथियाकर आदिवासी को विस्थापित तथा पलायन के लिए मजबूर कर रही है। सब पहाड़, नदियां, जंगल खत्म किये जा रहे हैं, आधुनिक सभ्यता के तारे-तरीकों से अनजान आदिवासी लगातार उगा जा रहा है, आदिवासियों के ठिकानों में आज मलबे, धूआं और प्रदूषण के अलावा कुछ नहीं है, आदिवासी नम आंखों के साथ अपने सदियों पुराने आवासों को छोड़ शहर की ओर दूसरे प्रकार के शोषण के लिए जाने को अभिशप्त है। यथा—“यहां से सबका रुख/शहर की ओर कर दिया गया है/कल एक पहाड़ को टुक पर जाते हुए देखा/उससे पहले नदी गई/अब खबर फैल रही है कि/मेरा गांव भी यहां से जाने वाला है/शहर में मेरे लोग तुमसे मिलें/तो उनका ख्याल जरूर रखना/यहां से जाते हुए/उनकी आंखों में मैंने नमी देखी थी।<sup>6</sup>

सरकार जल, जंगल, जमीन से आदिवासियों के अधिकार निरंतर छीन रही है। जो वन्य पशु-पक्षी सदियों से उनके साथ रहते आये हैं तथा खूब फले-फूले हैं। सरकार की नजर में अब इन वन्य जीव-जंतुओं को आदिवासियों से खतरा है? इसलिए आदिवासियों का जंगल से बेदखल सरकार के लिए आवश्यक हो गया है। प्रदीप सिंह ने अपने लेख में लिखा है कि आदिवासियों ने वनों के स्वाभाविक निवासी होने के नाते अपने अधिकारों की जब भी मांग की तो उसे सभी सरकारें खारिज करती रहीं और जब भी जनजातीय समुदायों ने परम्परागत वनवासी होने का दावा पेश किया तो उन्हें आधिकारिक तौर पर विभिन्न कानूनी प्रावधानों की आड़ में पेड़ों, नदियों, पहाड़ों और जंगली जानवरों का दुश्मन ठहराकर जंगल से बाहर खदेड़ने की प्रक्रिया आरंभ कर दी गई।<sup>7</sup> जब आदिवासी अपनी खेती योग्य जमीन बचाने के लिए आवाज उठाते तो उनके साथ बर्बरतापूर्वक व्यवहार किया जाता है। फर्जी आपराधिक मामले दर्ज कर पुलिस इन पर अत्याचार करती है। सिंगूर नन्दीग्राम इसके स्पष्ट उदाहरण है। झारखण्ड के रांची जिले के अन्तर्गत आने वाला नगड़ी आज अशांत है। वहाँ के 35 गांवों के हजारों ग्रामीणों का आक्रोश चरम पर है। दरअसल ये आक्रोशित ग्रामीण अपनी खेती योग्य भूमि बचाने के लिए कई महिनों से सरकार और उसकी जनविरोधी विकास नीति के खिलाफ आंदोलनरत हैं। सरकार की अधिग्रहण की नीति आदिवासियों के लिए संकट का सबब बन गई है। डॉ.उषा बनसोडे ने लिखा है कि आदिवासी जनसमुदाय प्रकृति का सहयोगी, छल-कपट, भेदभाव से दूर तथा प्रकृति पर

निर्भर समुदाय है। इक्कीसवीं सदी में विकास की विभिन्न योजनाओं, औद्योगिकीकरण के कारण जंगलों की अंधाधुंध कटाई हो रही है। जंगलों की कटाई के कारण आदिवासियों का अस्तित्व खतरे में हैं क्योंकि जंगल ही उनकी जीविका का प्रमुख स्रोत है। जल, जंगल, जमीन उनके जीवन के आधार हैं। वे वनोपज से अपना जीवनयापन करते हैं। जंगल के वृक्षों से प्राप्त फल, फूल, पत्ते, लकड़ी आदि को उपयोग में लाकर वे अपनी जीविका चलाते हैं। जंगल ही उनका जीवन है। लेकिन जब विभिन्न योजनाओं के कारण जंगल कटने लगे तो आदिवासी व्यथित होता है।<sup>8</sup> जल, जंगल, जमीन की समस्या केवल आदिवासियों के ही अस्तित्व का सवाल नहीं है, यह मानव जाति के अस्तित्व का भी सवाल है, पर सरकार इस पर विचार नहीं कर रही है, उसे केवल तत्कालिक चमक और सफलता चाहिए—किसी भी कीमत पर। जीवन को बचाने के लिए पर्यावरण संतुलन आवश्यक है, पर्यावरण संतुलन बनाय रखने और प्रदूषण को रोकने के लिए कुल भू-भाग के एक तिहाई भाग पर वनों का होना आवश्यक है। भारत सरकार द्वारा 1952 में बनाई गई वन नीति के अनुसार देश के 33 प्रतिशत भू-भाग पर वृक्षारोपण का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। एक तरफ सरकार पर्यावरण संरक्षण का ढोल पीटती तो नजर आती है तो दूसरी तरफ जंगलों का सफाया करने में लगी है। नई वन नीति-2007 का भी आदिवासियों को खास फायदा नहीं मिल पा रहा है। मिट्टी और वनों के हास, जीव-जंतुओं के संहार, खानों के अंधाधुंध खनन, धुआं और जहरीले औद्योगिक प्रदूषकों से ओतप्रोत वातावरण जल तथा वायु प्रदूषण से मानव जाति का अस्तित्व, शांति, सुरक्षा तथा समृद्धि संकट में है।<sup>9</sup>

आदिवासी समुदाय के सामने विस्थापन की समस्या अंग्रेजों के काल से चली आई है। ब्रिटिश शासन के दौरान उन्हें रेलवे लाईन बिछाने के नाम पर उजाड़ा गया तो आज भूमंडलीकरण के दौर में जलविद्युत योजनाएं, खदान, फौलादी कारखानों, बड़े-बड़े बांधों के निर्माण आदि के नाम पर विस्थापित किया जा रहा है। आर्थिक उदारीकरण ने आदिवासी समुदाय को बहुत कुछ सोचने के लिए मजबूर किया है।<sup>10</sup> तथाकथित विकास के इस क्रम में आदिवासी समाज ने अपनी सामूहिक पहचान और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत खोई है और उनके हिस्से में कुछ न आकर केवल गरीबी, कुपोषण, मृत्यु-दर में वृद्धि, अशिक्षा, बेरोजगारी, अत्याचार, शोषण, ऋण ग्रस्तता एवं खेतिहर मजदूरी आई।<sup>11</sup> 1990 से जारी कॉरपोरेट व साम्राज्यवादपरस्त आर्थिक नीतियों के तहत वन, पर्यावरण, वन पशुओं की रक्षा के बहाने देश के तमाम प्राकृतिक संसाधनों—जल, जंगल, जमीन, जड़ी-बूटी, बालू-पत्थर, सानो, जानवर और हर कुछ को साम्राज्यवादी व कॉरपोरेट घराने लूट लेना चाहते हैं। सरकार की गलत नीतियों के कारण विकास और आदिवासी दोनों विरोधी माने जाने लगे हैं। विकास के इस दिवा स्वप्न में आदिवासी केवल छला जाता है। “विकास का स्वप्न दिखाकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियां आदिवासियों के जंगलों पर अपना आधिपत्य स्थापित करती जा रही हैं। विकास की इस अंधी दौड़ में आदिवासियों पर हो रहे शोषण को

सरकार मूक सहयोग दे रही है। ऐसा भी नहीं है कि आदिवासी खुद पर हो रहे शोषण और अत्याचारों का विरोध नहीं करते। परन्तु विडम्बना यह है कि विरोध करने पर उन्हें माओवादी, नक्सलवादी या देशद्रोही करार दे दिया जाता है। परिणामतः उन्हें फर्जी मुठभेड़ में पुलिस द्वारा मार दिया जाता है। वर्चस्व की ताकत के आगे, आदिवासी समाज लाचार-बेबस है।<sup>12</sup> पश्चिमी चम्पारण में वाल्मिकी व्याघ्र परियोजना ने सदियों से रह रहे आदिवासियों को वहाँ से बेदखल होने के लिए मजबूर कर दिया है। 1994 में लागू इस परियोजना के बाद से ही धीरे-धीरे आदिवासियों के अधिकार छीने जाने लगे और रोजी-रोटी की तलाश में उनका पलायन शुरू हो गया। वीरेन्द्र कुमार गुप्ता ने अपने लेख में लिखा है कि "सरकार का विकास का नारा चंपारण के आदिवासियों के लिए अन्याय और विनाश के नारे में तब्दील हो गया है। वाल्मिकी नगर वन के महज 8 बाधों की रक्षा के बहाने 5 लाख की आबादी को बर्बाद व तबाह करने पर सरकार तुली हुई है। बिहार व दिल्ली सरकारों के साथ अमेरिका संचालित वर्ल्ड वाइल्ड लाइफ फंड का समझौता हुआ है। इस समझौते के तहत चंपारण के पहाड़ के उत्तर के नेपाली इलाके का जंगल-चितवन और भारत के वाल्मिकी व्याघ्र वन की घेराबंदी की जा रही है और वहाँ रहने वाली जनता के जल-जंगल-जमीन पर प्राप्त तमाम परंपरागत, वैधानिक व नागरिक अधिकारों को छीना जा रहा है। विभिन्न क्रिया कलापों व बंदिशों के जरिए उन्हें जंगल छोड़ने को विवश किया जा रहा है।"<sup>13</sup>

आदिवासी इलाकों में भू-माफियाओं और सरकार की मिलीभगत से अवैध खनन के चलते पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, वन संरक्षण अधिनियम, केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड, खान अधिनियम के साथ-साथ उच्चतम न्यायालय के आदेशों की धज्जियां उड़ाकर रख दी है। सिंगरोली-सोनभद्र औद्योगिक परिक्षेत्र में अवैध खनन और स्टोन क्रेशर प्लांटों के संचालन से वायुमण्डल में जहर फैलता जा रहा है। लेकिन न्यायालयों के आदेशों के बाद भी अवैध खान व पर्यावरण संरक्षण अधिनियम के मानकों से परे, डिफाल्टर घोषित स्टोन क्रेशर प्लांट बंद नहीं किये जा सके हैं। शिवदास यादव की रिपोर्ट बताती है कि सोनभद्र के जिलाधिकारी के रूप में पनधारी यादव के कार्यकाल के दौरान जिले में वन संरक्षण अधिनियम, केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड, खान अधिनियम के प्रावधानों और उच्चतम न्यायालय के आदेशों की धज्जियां उड़ाते हुए खनन माफियाओं और औद्योगिक घरानों को खनन पट्टे बांट दिये गये और मानक विहीन तथा फर्जी स्टोन क्रेशर प्लांटों के संचालन के लिए सहमति-पत्र जारी किये गये। इसी अवैध खनन के मामले का विरोध करने पर सोनभद्र के सुकृत ग्राम पंचायत की महिला प्रधान धुन्ना देवी की 5 जून 2012 को गोली मारकर हत्या कर दी गई।<sup>14</sup> स्पष्ट है कि धन-बल, भुज-बल और सत्ता-बल मिलकर आदिवासियों को उजाड़ रहा है। आदिवासी बहुल राज्य झारखण्ड भू-माफियाओं, औद्योगिक घरानों और सरकार की लूट और हड़प का अच्छा उदाहरण है। पिछले सालों में झारखण्ड के राची, रामगढ़ हजारीबाग, बोकारो और धनबाद जिलों में जिन्दल, रिलायंस, इनलैंड

पावर प्लांट लिमिटेड, मिट्टल, इलेक्ट्रो स्टील जैसे कॉरपोरेट्स द्वारा सरकार और बिचौलियों के जरिए भूमि लूट का काम किया जा रहा है तथाकथित औद्योगिक विकास के नाम पर लंबे समय से बंद पड़े हुए बिड़ला एलॉय स्टील (बॉसल) फ़ैक्ट्री की 100 करोड़ से ज्यादा की परिसम्पत्तियां डेढ़ करोड़ के औने-पौने दामों में बेच दी गईं। यह विशाल भू-सम्पदा आदिवासियों की थी, जिसे दलालों के जरिए बिड़ला को बेच दिया।<sup>15</sup> और आदिवासी जब इसका विरोध करते हैं, प्रदर्शन करते हैं तो उन्हें मार दिया जाता है। जिस जमीन पर आदिवासी सदियों से खेती करते आये हैं, उस जमीन पर आज उसको मालिकाना हक पाने के लिए भटकना पड़ रहा है। वस्तुतः जंगल की जमीन पर आदिवासियों के हक का सवाल आज भी अनसुलझे पहलु की तरह बना हुआ है, जो आदिवासी जिस जमीन पर पुश्त-दर-पुश्त रहते आये हैं, खेती करते आये हैं, जिसे सरकार ने कभी विकास और सभ्यता के हकदार नहीं माना, सरकार ने पट्टे ही नहीं दिये, उनसे जमीन के कागजात मांगना, लिखित सरकारी प्रमाण मांगना कितना बेमानी है? सोचने की बात है। प्रमाण न होने का खामियाजा आदिवासियों को भुगतना पड़ रहा है। जमीन छीन जाने के बाद भी उनको न तो उचित मुआवजा मिलता है और न ही परिवार के सदस्यों को नौकरी। आदिवासी क्षेत्रों में लगने वाले उद्योगों, बांधों, परियोजनाओं या अन्य व्यावसायिक गतिविधियों से आदिवासियों को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से कोई रोजगार नहीं मिलता। अधिक से अधिक बंधुआ मजदूर होकर रह जाते हैं। इसलिए आवश्यक है कि वनाधिकार कानून को सख्ती से लागू किया जाना चाहिए, उस जमीन का जिस पर उसकी कई पीढ़ियां खेती करती आई हैं, नये सिरे से सर्वे कराकर उसकी सही रिकार्ड बनाया जाय और उसकी जमीन और सम्पत्ति की रक्षा की गारंटी की जाए। भू-माफियाओं द्वारा गलत तरीके से हड़पी गई जमीन उन्हें वापस की जाए और दोषी सरकारी अधिकारियों, भू-माफियाओं को सबक सिखाना चाहिए। अगर ऐसा नहीं किया गया तो आदिवासी धीरे-धीरे अपनी जमीन, जंगल से न केवल बेदखल होंगे, बल्कि बिखर जायेंगे, मिट जायेंगे, उनकी भाषा और संस्कृति सब खत्म हो जायेगी। वर्तमान पूंजीवादी सोच और सरकारी रवैये से लगता है, यही होकर रहेगा। हरिराम मीणा की कविता इस सच को इस प्रकार बयान करती है— सभ्यता के नाम पर/आखिर कर ही दिये जाओगे बेदखल/हजारों सालों की तुम्हारी/पुश्तैनी भौम से/कोई और होंगे अब कानूनी हकदार/नारियल के इन दरख्तों के।<sup>16</sup>

आदिवासी संस्कृति प्रकृति को अपनी मां के समान मानती हैं। जब कोई दिक्कू, बाहरी या कोई पूँजीपति, उद्योगपति सरकार के इसारे पर लूटता है, उसका दोहन करता है। तो वे उसका घोर विरोध करते हैं। आदिवासियों के प्रतिरोध का स्वर मीडिया भी नहीं सुनता है, उन्हें प्रायोजित खबरें देने से ही फुर्सत नहीं है। आज का सारा मीडिया और सूचना तंत्र राजनीति, बाजार और पूंजी की गिरफ्त में है और आदिवासी पूंजी, राजनीति और बाजार से नदारद है। सिर्फ कूछेक लघु पत्र-पत्रिकाएँ हैं जो आदिवासियों के दर्द और प्रतिरोध की

भावना को स्थान दे रही है। मदन कश्यप अपनी कविता में आदिवासियों की भावना और वेदना का चित्रण करते हुए लिखते हैं कि—‘ये बॉक्साइट के पहाड़ नहीं, हमारे पुरखे हैं/आप इन्हें सेंधा नमक—सा चाटना बंद कीजिए/यह लाल लोहा—माटी हमारी माता है/आप बेसन के लड्डू—सा इन्हें कोसना बंद कीजिए/ये नदियां हमारी बहनें हैं/इन्हें इंग्लिश बियर की तरह गटकना बंद कीजिए/हमें शांत छोड़ दीजिए अपने जंगल में/हम हरियाली चाहते हैं आग की लपटें नहीं/ हम मादल की आवाज सुनना चाहते हैं/गोलियों की तड़तड़ाहट नहीं।<sup>17</sup> आज आदिवासी समाज को रोलर की भांति दबाया, कुचला और मिटाया जा रहा है—जंगल के लिए, जमीन के लिए, भू-सम्पदा के लिए, पूंजीपतियों के मुनाफे के लिए, दलालों और दबंगों के लिए। हरिराम मीणा की ‘बेदखल होते हुए’ कविता इस सत्य को मार्मिक ढंग से बयान करती है। यथा—‘पृथ्वी की सारी सभ्यता/एक भीमकाय रोड रोलर की मानिंद/लुढ़कती आ रही है हमारी जानिब/और हम बदहवास भाग रहे हैं/खोह और गुफाओं की ओर/खोज रहे हैं किसी चट्टान का आसरा/मांग रहे हैं/घने पेड़ों और झुरमुटों में/लहलुहान और भौंकके/ बेदखल होते हुए/हमारी अपनी पुश्तैनी जमीनों से!<sup>18</sup>

देश में संवेदनहीनता इस कदर है कि आदिवासियों पर होने वाले अत्याचारों को सहज और स्वाभाविक रूप में लिया जाता है। कहीं किसी के मन में संवेदना नहीं दिखाई देती है। जब आदिवासी विस्थापित होकर शहर में आता है, तो उसके साथ इंसान जैसा भी व्यवहार नहीं किया जाता। उसे तथाकथित सभ्य समाज में शोषण और अत्याचारों का सामना करना पड़ता है आखिर उसे वापस ही लौटना पड़ता है। जसिंता केरकेट्टा ने अपनी कविता में लिखा है कि —हमारे गांव से निकलकर फूल भी जाते हैं/अपने ही देश के किसी शहर में, जहां/चाकू से गोंद दिया जाता है उसका चेहरा/बिगाड़ दिया जाता है इंसानी शरीर का नक्शा/इसी देश में नस्लभेदी, संवेदनहीन लोगों द्वारा,/मसल दिया जाता है उन पलाश के फूलों को/जो बिखरे होते हैं महानगर के हर घर में/... लौट आती है वो अपने घर वापस/जब नुचे—खुरचे, चिथड़े—चिथड़े हो चुके/अपनी आत्मा के टुकड़ों को समेटते हुए/किसी जिंदा लाश की तरह चलती हुई/तब देश के कोने—कोने से नहीं उठता/ऐसे ही हजारों फूलों की सुरक्षा पर सवाल/देश के नस्लभेदी, संवेदनहीन लोगों को/क्यों नहीं होता अपनी करतूतों पर मलाल!<sup>19</sup>

जो आदिवासी हजारों वर्षों से जिस जमीन पर निवास कर रहे हैं; उस पर उनका कोई कानूनी अधिकार नहीं है। जिसके कारण सरकार व अन्य दबंगों को आदिवासियों की जमीन हथियाने में कोई जोर नहीं लगाना पड़ता। वैसे भी सरकार ने भूमि अधिग्रहण कानून के हर उस उपबंध को कमजोर कर दिया है जिनसे किसान और आदिवासी की जमीन को हथियाने में सरकार को अड़चने आती थी। सरकार ने अंग्रेज राज के 1894 के भूमि अधिग्रहण कानून में आदिवासियों व किसानों के संघर्षों से विवश होकर ‘भूमि अर्जन, पुनर्वासन और

पुनर्व्यवस्था में उचित प्रतिकर और पारदर्शिता का अधिकार विधेयक 2013 कानून’ बनाकर किसानों व आदिवासियों में सुरक्षा की उम्मीद जगाई थी तथा लगा था कि अब जबरिया जमीन हड़तपने के खेल पर पाबंदी लगेगी। लेकिन सरकार ने कॉरपोरेट लॉबी के दबाव में अलोकतांत्रिक तरीके से कानून में पुनः संशोधन कर जबर्दस्ती अधिग्रहण के दरवाजे पूरी तरह से पूंजीपतियों के लिए खोल दिये हैं। सरकार के इस तुगलकी फैसले से 1894 का सामंती दौर फिर वापिस आ गया है।<sup>20</sup> कानून में यह संशोधन किसानों और आदिवासियों की जमीन देशी—विदेशी सरमाएदारों की थाली में परोसने के समान है। यहां तक कि इस संशोधन के माध्यम से अदालत भी सरकार को जबरन अधिग्रहण करने से नहीं रोक सकती तथा औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, आर्थिक सुधारों, ढाचागत सुधारों, परियोजनाओं के बहाने जमीनों को बिना किसी आहट के हड़तपने का सहज रास्ता है।

कहने को देश में खनिजों के खनन को व्यवस्थित, नियंत्रित और अवैध खनन को रोकने के लिए एक ‘नेशनल मिनरल पॉलिसी, 2008’ है। इसके अलावा खदान का पट्टा लेने के लिए पहले कम्पनी या किसी व्यक्ति को पर्यावरण मंत्रालय और वन मंत्रालय से मंजूरी लेनी होती है। बावजूद इसके पूरे देश में अवैध खनन धड़ल्ले से जारी है। खनन कारोबारी, नौकरशाही और भ्रष्ट सियासी लीडरों का नापाक गठबंधन सारे कायदे—कानूनों को धता बताकर सरकार की नाक के नीचे अवैध खान करता रहता है।...यदि कहीं कोई कार्यवाही भी होती है, तो सिर्फ देखने—दिखाने को।...नीति में संघ लगाकर खान करोबारी या बड़ी—बड़ी देशी—विदेशी कंपनियों सरकार को लाखों—करोड़ों रूपए के राजस्व का चूना लगाती है। पर्यावरण विनाश हो रहा है, वह अलग। ओडिशा जैसे राज्य में जहां पर्यावरण प्रणाली बेहद संवेदनशील है, सघन वन है, ... वहाँ खनन गतिविधियों की वजह से पर्यावरण का नाश तो हुआ ही, वन्य प्राणियों और जनजातीय समुदाय का भी बड़े पैमाने पर विस्थापन हुआ है।<sup>21</sup> देश में लौह अयस्क और मैंगनीज अयस्क के अवैध खनन और निर्यात की जांच के लिए गठित न्यायमूर्ति एमबी शाह आयोग की रिपोर्ट में खुलासा हुआ कि टाटा स्टील, सेल और एस्सल माइनिंग के अलावा उषा मार्टिन और रूगटा माइंस जैसी छोटी और मध्यम दर्जे की कंपनियां झारखण्ड, गोवा और ओडिशा जैसे प्राकृतिक और खनिज संसाधनों से परिपूर्ण राज्यों में नियमों का उलंघन कर बड़े पैमाने पर अवैध खनन में लगी हुई हैं। इस आयोग की 2014 में संसद में पेश रिपोर्ट में खुलासा हुआ कि 2008 से 2011 के बीच झारखण्ड में 22,000 करोड़ रुपये, गोवा में 2,747 करोड़ रुपये तथा ओडिशा में 61,000 करोड़ रुपये का अवैध खनन किया गया।<sup>22</sup> ये छोटे से आकड़े हैं। देश में आदिवासी बहुल इलाकों में आदिवासियों के दुख—दर्दों, विस्थापन की अनदेखी करते हुए जल, जंगल जमीन की बड़े पैमाने पर बेहिसाब लूट मची हुई है जिसमें सरकारी मशीनरी, खनन माफिया, राजनेता, ताकतवर लोग, भ्रष्ट अधिकारी सबके सब इस लूट के भागीदार बने हुए हैं। इतना अवश्य है कि इससे आदिवासी जो त्रासदी भोगता

है, उसमें वह अकेला है। उसके साथ कोई नहीं है। आज जंगलों में रहना ही आदिवासी का दुर्भाग्य बन गया है। सरकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, एकाधिरवादी घरानों, बड़ी पूँजी के लोगों को समय-समय पर छूट देकर आदिवासियों की जमीनों को दे देती है तथा दस्तावजों के अभाव में आदिवासियों को मुआवजा तक भी नहीं मिलता है तथा आदिवासी बेघर होकर त्रासदीपूर्ण जीवन जीने को मजबूर होता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार जैसी प्राथमिक स्तर की भी इनकी आवश्यकताएं पूरी नहीं हो पाती हैं। 'पाइक और दीकू तत्वों' (गैर-आदिवासी बाहरी लोग) ने पेचीदी और खर्चीली न्यायप्रणाली का भरपूर लाभ उठाया है और जंगल व जमीन पर डाका मारा है। फलस्वरूप अनेक भूमिहीन व वनविहीन आदिवासियों ने खुदकुशी की है। लम्बी मुकदमेबाजी ने उनका सब कुछ छीन लिया।<sup>23</sup> आदिवासी इलाकों में पूँजीपतियों के लिए यह सब खेल की भांति है। 'आज आवश्यकता है कि 'जल, जंगल जमीन को 'कमोडिटी' न बनाया जाए। चरम उपभोक्तावाद और सुपर-टेक्नोलॉजी की मानवी भूख को शांत करने का इसे माध्यम न बनने दें। इसे समाज, संस्कृति, सभ्यता और मानव विकास के आधारभूत तत्वों के रूप में ही देखा जाए।<sup>24</sup> लेकिन विकास और पूँजी की इस अंधी दौड़ में नीति नियंताओं को इस तरह के सुझाव और नैतिक दृष्टिकोण मूर्खतापूर्ण लगते हैं। आदिवासी जीवन, संस्कृति और परिवेश के विशेषज्ञ प्रो. वीरभारत तलवार कहते हैं कि इस समाज का दुर्भाग्य क्या और क्यों है? दुर्भाग्य इसलिए है कि आदिवासी उन इलाकों में रहते हैं, जहां धरती के नीचे बहुमूल्य सम्पदा है। दुनिया के बड़े महत्वपूर्ण खनिज, बड़ी बेशकीमती खदानें उस जमीन के नीचे हैं, जहां आदिवासी अपनी छोटी-छोटी झोपड़ियां बनाकर रहते हैं। ये बेशकीमती सम्पदा उनके दुर्भाग्य का सबसे बड़ा कारण बन गई है। उस सम्पदा पर दुनिया भर की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और सरकारों की नजर लगी हुई है। उस सम्पदा को निकालना है और उससे करोड़ों का मुनाफा कमाना है, करोड़ों के मुनाफे के लिए, आदिवासियों को उस जमीन से हटाने के लिए, भगानों के लिए दशकों से एक युद्ध चल रहा है। आप खुली आंखों से देख सकते हैं कि उस युद्ध में अकेले हैं आदिवासी, कोई उनके साथ नहीं खड़ा है।<sup>25</sup> विस्थापन, जल, जंगल जमीन से बेदखल आदिवासी की स्थिति अर्थात् हिन्दुस्तान की सबसे पुरानी और मूलवासी अपनी सभ्यता, संस्कृति, भाषा और अस्मिता का बिखरना, मिटना और अस्तित्व समाप्त होना है। दूसरी बात यह कि जो अपने डीह-डाबर छोड़कर शहर में आते हैं, चाहे वह स्त्री या पुरुष उनके साथ मानवीय व्यवहार नहीं किया जाता। महिलाओं की स्थिति तो इससे भी बदतर है। उनके शारीरिक श्रम का दोहन अमानवीय ढंग से किया जाता है।<sup>26</sup> उन्हें कांट्रेक्ट पर सिर्फ ग्यारह महिने ही रखा जाता है, कई एजेंटों के माध्यम से वे अस्थाई रोजगार तक आ पाते हैं। शहरों में उनकी स्थिति बंधुआ मजदूरों से भी बदतर होती है। आज नक्सलवाद के नाम पर आदिवासियों के प्रति हिंसा की जा रही है। नक्सलवाद सरकार के आदिवासियों के प्रति गैर जिम्मेदार रवैये, उनकी जमीन और जंगल को हड़पने तथा अत्याचारों के कारण पनप रहा है। इसका खमियाजा

आदिवासी को ही भुगतना पड़ रहा है। वह जल, जंगल और जमीन अर्थात् अपनी जड़ों से उखड़कर पलायन और विस्थापन को मजबूर है। रमणिका गुप्ता ने लिखा है कि जल और जमीन से उजड़ते, पुलिस से पिटते, जमींदारों-ठेकेदारों से लुटते, आदिवासियों के लिए नक्सलवाद के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं बचता। ... नक्सलवाद दरिद्रता और शोषण के खिलाफ जिहाद है।<sup>27</sup> वास्तव में नक्सलवाद के प्रति जिम्मेदार शासन और प्रशासन तथा राजनेता ही है। डॉ.एल.एल.योगी ने लिखा है कि नक्सलवादी हिंसा के जनक सारे राजनेता, प्रशासन, पुलिस अधिकारी, भूमिपति सूदखोर दिक्कू, अदालतें हैं जिन्होंने प्रगतिशील कानूनों और लोककल्याणकारी प्रावधानों का सटीक क्रियान्वयन नहीं होने दिया। समर्थ लोगों के हित में जमीनों की फर्जी बन्दोबस्ती करायी गयी। दुर्बल आदिवासियों की जमीनें येनकेन प्रकारेण हड़पी गयीं। आदिवासियों की पहचान और अस्मिता जंगल और जमीन से जुड़ी है, उसे जंगलों से जबरन बेदखल किया जाता है तो उसके खालीपन को नक्सलवाद भरेगा। यही प्रतीत होता है कि सरकार नक्सलियों को खत्म नहीं कर पायी है परन्तु आदिवासियों का सफाया हो रहा है। गरीबी को नहीं गरीब को खत्म किया जा रहा है।<sup>28</sup> वैश्वकरण और पूँजीवाद के इस दौर में आदिवासी देश के व्यवस्थाकारों के लिए एक अनुपयोगी अनावश्यक सामान की तरह है जिसे फेंक दिया जाता है। सरकारी हिंसा, संसाधनों से बेदखली...विस्थापन, आन्तरिक उपनिवेशवादी मानसिकता और घुसपैठ ने आदिवासियों का जीवन असंभव कर दिया है। देश में नक्सलवाद के नाम पर आदिवासियों की छवि खराब की है, आदिवासी का मतलब नक्सलवादी या उग्रवादी नहीं है किन्तु ताना-बाना ऐसा है कि नक्सलवाद के नाम पर 'सरकार जिसे उग्रवादी कहती है, मिडिया उसे उग्रवादी साबित कर देता है, आम जन भी वही मान लेता है जिसे मीडिया कहता है। .. नक्सलवादी मानते हैं कि मीडिया पर हमें विश्वास नहीं है। वह मीडिया जिसे चरमवादी उग्रवादी क्षेत्र बताता है, उस क्षेत्र में तस्कर की मजाल नहीं है कि वह जंगल की एक डाल काटले।<sup>29</sup>

वैसे देश के व्यवस्थाकार इस बात पर फूले हुए हैं कि उन्होंने देश को विकास के कई स्तर पार कर लिए हैं। लेकिन उस विकास के नक्शे में आदिवासी कहीं भी नहीं है, उल्टे आदिवासी उससे उजड़ते हैं, उनका घर, बस्ती, समुदाय सब बिखर जाते हैं, उनकी जड़े उखड़ जाती हैं, उनके हाथ में विस्थापन और पलायन के सिवा कुछ नहीं आता है। उनका जल, जंगल, जमीन सब लुट जाता है तथा वे बेघर और बेरोजगार होकर भटकते रहते हैं। अभाव, गरीबी, भूखमरी, अशिक्षा, भय, आतंक, शोषण, छल-कपट, हिंसा आदि आदिवासियों की जिन्दगी के अनिवार्य हिस्से बन जाते हैं। अगर किसी ने शहर और महानगर की ओर रुख कर लिया तो वह मिट कर ही रहता है। तथाकथित विकास को नकारते हुए विकल सिंह ने अपनी कविता में विकास के नये भेद रहित उस नक्शे की गुहार लगाई है जिसमें आदिवासी उजड़े नहीं, उनकी बस्तियां, उनके घर उजड़े नहीं, बच्चे चिखें नहीं, संस्कृति मरे नहीं बल्कि प्रकृति की गोद में मुस्कराएँ। यथा- तुमने

जो विकास का/खाका तैयार किया है/उसमें हमारा विकास/तो नदारद है/गर कुछ है तो/हमारे बीवी, बच्चों/की चीखें और/हमारी उम्मीदों का/टूटना है/.... ये पहाड़, ये झरने/ये प्रकृति ही हमारी/धरोहर है!/क्या तुम इसे भी/छीन लेना चाहते हो?/नहीं! नहीं! साहब!/यदि विकास हमारी/बस्तियों का उजड़ना है/तो नहीं चाहिए/हमें ये विकास!/क्योंकि इन बस्तियों/का उजड़ना/हमारी अस्मिता/सभ्यता और/संस्कृति का उजड़ना है/हम प्रकृति की/गोद में रहते आए हैं/ये झरने ये पहाड़/हमें अत्यधिक प्यारे हैं/हमें अपने हाल/पे छोड़ दीजिए साहब/जाइए पहले विकास का/अद्वैत प्लम्बन तैयार कीजिए/जिसमें विकास हमारा हो/हमारी संस्कृति मरे नहीं।<sup>30</sup> वास्तव में यह भी सच है कि आदिवासी सरकार और नक्सलियों के बीच पिस कर रह गया है। सरकार उनकी जल, जंगल जमीन लूटकर विकास के नाम पर मुख्यधारा में लाने का तथाकथित भ्रामक प्रलोभन देती है, विकास का प्रचार भी करती है। सदियों से सपने संजोए प्रकृति को आदिवासी खोकर शहर में नहीं जाना चाहता या शहरनुमा बस्तियों में रहना नहीं चाहता। वह अपनी पुरानी परंपरा, भाषा और संस्कृति को खोना नहीं चाहता। शहरों की रिक्तता और देह की भूखी सभ्यता के बीच आदिवासी जाना नहीं चाहता। शशिभूषण मिश्र की यह कविता आदिवासी भावना को बखुबी बयान करती है—“हमें रहने दो असभ्य, आदिम और जंगली/नंगे और भूखे रहकर भी बहुत खुश है हम/स्याह रातों और भयावह रिक्तता के/पर्याय हो चुके शहरों में/हमें मत तब्दील करो।<sup>31</sup> आदिवासी अपने शोषण के खिलाफ प्रतिरोध करता है, विस्थान और पलायन के खिलाफ आवाज उठाता है, पर उसकी आवाज कोई नहीं सुनता, आखिर आदिवासियों के खिलाफ किये जा रहे षडयंत्र तथा अत्याचारों के आकड़ों को कौन दिखायेगा। उनकी राजनीतिक शक्ति शून्य है, मीडिया सरकार का भौंपू है। मीडिया बाजार, पूँजी और सत्ता के साथ होता है। अन्यथा शहर में आने वाले आदिवासियों की हालात बाजार में बिकने वाली सरस्ती सब्जी के बराबर भी नहीं है। उनके प्रति घृणा, नफरत, हिंसा, अत्याचार को उजागर करने वाला कोई नहीं है। शहर में आकर बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी करने वाले आदिवासी स्त्री-पुरुषों को फुटपात पर भी जगह नहीं मिलती है। उनकी औरतों को बाजार में दलालों के मार्फत बेचा जाता है। सुनील कुमार की यह कविता आदिवासियों में विस्थापन और पलायन का प्रतिरोध करती हुई जंगल और पहाड़ को बचाने का आह्वान करती है। यथा— भूलकर भी परदेश कमान मत जाओ मेरे भाई/अपनी जमीन पर ही महनत मजूरी करो/...आसाम में अब तक हमारे सैंकड़ों भाईयों को/मौत के घाट उतार दिया गया/बंबई में भी हमें खदेड़ा गया/हमारी बहन-बेटियां हर दिन दिल्ली के बाजारों में बेची जाती हैं/...हमें अपने जंगल बचाने हैं, पहाड़ बचाने हैं/यहीं पहाड़ की तराई में अपनी छोटी-सी दुनिया बसायेंगे।<sup>32</sup> जल, जंगल, जमीन का मुद्दा केवल आदिवासियों के ही अस्तित्व का सवाल नहीं है। यह पर्यावरण और पारिस्थितिकी तंत्र के संतुलन का भी सवाल है। लेकिन यह पूँजीवादी, भोग-विलास में डूबी सभ्यता

इस पर गंभीर नहीं है। प्रकृति का अत्यधिक दोहन व शोषण किया जा रहा है। पर्यावरण प्रदूषण के कारण समूची मानव सभ्यता के सामने आज खतरा मंडरा रहा है। लेकिन 'उन्हें इस बात की कोई परवाह नहीं है कि अतिदोहन के परिणामस्वरूप हमारा पर्यावरण और वातावरण प्रदूषित हो रहा है। प्रतिवर्ष कहीं ना कहीं प्राकृतिक आपदाओं के परिणामस्वरूप मनुष्यता के अस्तित्व पर खतरे के संकेत मिलते हैं। फिर भी हमें अधिकाधिक लाभ चाहिए, चाहे इसके लिए किसी कौम या जाति को नष्ट ही क्यों न होना पड़े?'<sup>33</sup> संताल परगना का दुःख कविता में संताल परगना के उजड़ते जंगलों के माध्यम से आज पर्यावरणीय खतरों की ओर संकेत किया है— संताल परगना दुखी है/कि यहां के जंगल उजड़ते जा रहे हैं/गायब होते जा रहे हैं यहां के पहाड़/..निरंतर कम पड़ते जा रहे हैं उसके खेत/बिलाते जा रहे हैं नदी तालाब जारिया धीरे-धीरे न जाने कहाँ?/यहां तक कि जंगल तो जंगल/गाय, बैल, बकरी, सुअर जैसे पालतू जानवर भी/घटते जा रहे हैं लगातार...।<sup>34</sup> यह तो सच है कि यह तथाकथित आधुनिक सभ्यता, पूँजीवादी व्यवस्था, प्रकृति के दलाल, औद्योगिक घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हितैषि नेता और शासन प्रशासन भोले-भाले आदिवासी को तो हिकारत और मामूली-सी चीज समझकर उसके जल, जंगल जमीन के मुद्दे को नकार कर प्रकृति का सौदा कर उसे विस्थापित और बेधर कर रही है लेकिन एक दिन यही प्रकृति इन्हें नेस्तनाबूद कर देगी तथा अपना हिसाब मांगेगी। ग्रेस कुजूर ने ठीक ही लिखा है कि— न छेड़ो प्रकृति को/अन्यथा यही प्रकृति/एक दिन/मांगेगी/हमसे/तुमसे/अपनी तरुणाई का/एक-एक क्षण/और करेगी/भयंकर....बगावत/और तब/न तुम होंगे/न हम होंगे!<sup>35</sup> आदिवासी, पर्यावरण, जल, जंगल, जमीन को बचाना है तो जरूरी है कि हमारे विकास की अवधारण व मॉडल को बदलना होगा। अधिग्रहण और पर्यावरण संरक्षण कानून को और भी कठोर करना होगा। अधिग्रहण में आम सहमति अनिवार्य हो। आज विकास के मॉडल में न आदिवासी फीट होते हैं न पर्यावरण। 'आदिवासी समाज शहरों की ओर पलायन न करें तथा जल, जंगल, जमीन से उनका विस्थापन न हो इसके लिए सबसे पहले आवश्यक है कि उनके पर्यावरण के अनुकूल 'विकास का मॉडल' निर्धारित किया जाय क्योंकि उनके सामने जो त्रासदी और चुनौति है, वह सबसे अलग है।<sup>36</sup>

### निष्कर्ष

समग्रतः कहा जा सकता है कि जल, जंगल, जमीन के बिना और इनके बाहर आदिवासी अस्तित्व की कल्पना संभव नहीं है। यदि उन्हें वहाँ से बेदखल किया जाता है तो इसका मतलब है एक कौम का, एक संस्कृति, परंपरा, समाज, भाषा का विनाश। विकास के मॉडल में आदिवासियों की परिस्थितियों और मानसिकता को ध्यान में न रखने के कारण विकास की वर्तमान अवधारण आदिवासियों के लिए अभिशाप बन गई है। परियोजना और विकास के नाम पर आदिवासियों की जमीनों को छीनकर, अवैध खनन व भू-माफियाओं को छूट देकर आदिवासियों को बेदखल करना, उन पर हिंसात्मक

कार्यवाहियों करना, विस्थापित और पल्लयान के लिए मजबूर करना, उन्हें खेती, जल, जंगल, जमीन विहिन करना वर्तमान ऐसी सच्चाई है जिसे नकार नहीं जा सकता; इसके चलते देश के पर्यावरण संतुलन को भी भारी नुकसान हो रहा है। मूलतः जल, जंगल, जमीन से बेदखल कर आदिवासी और आदिवासी संस्कृति नहीं बचाया जा सकता।

### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. नागफणी, त्रैमासिक पत्रिका नवंबर-जनवरी-2012 अंक, पृ.सं. 10
2. आदिवासी विमर्श :स्वस्थ जनतांत्रिक मूल्यों की तलाश सं. वीरेन्द्र सिंह यादव, डॉ.रावेन्द्र सिंह साहू पैसिफिक पब्लिकेशन, दिल्ली प्र.सं.2012 पृ.सं.441 लेख- आदिवासी की सूक्ष्म,होती अस्मिता संदीप कुमार सिंह,डॉ.ज्योति सिन्हा
3. राजस्थान पत्रिका, सत्ता से विचार की दूरी-पुण्य प्रसून वाजपेयी, 27अगस्त 2018, कोटा संस्करण, पृ.8
4. युद्धरत आम आदमी सं. रमणिका गुप्ता, सितम्बर 2014, जंगल बना जंगल : सत्येन्द्र कुमार रघुवंशी, पृ. 51
5. इस्पातिका : जनवरी-जून, 2012, कुछ किरचे-कुछ कहन : मित्रेश्वर अग्निमित्रा, अंक 1, वर्ष 2, पृष्ठ-28
6. इस्पातिका : जनवरी-जून 2012, शहर के दोस्त के नाम पत्र : अनुज लगुन, पृष्ठ-32
7. <http://hindi.indiawaterportal.org/node/50710>
8. युद्धरत आम आदमी : अप्रैल-2016, लेख-अस्मिताओं की तलाश में आदिवासी कविताएं- डॉ. उषा बनसोडे, पृ.62
9. विज्ञान प्रगति सिंधु पृ.सं. 4
10. युद्धरत आम आदमी : अप्रैल-2016 लेख-अस्मिताओं की तलाश में आदिवासी कविताएं- डॉ. उषा बनसोडे, पृ.62
11. अरावली उद्घोष मार्च 2010 अंक 87, पृ.71
12. युद्धरत आम आदमी मई - 2017, लेख-समकालीन हिन्दी साहित्य में आदिवासी विस्थापन-विकल सिंह, पृ.61
13. विज्ञान प्रगति सिंधु पृ.सं. 4
14. समकालीन जनमत, जुलाई 2012 पृ.सं. 9
15. वही पृ.सं. 9
16. आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, सं.रमणिका गुप्ता, पृ.सं. 29
17. अपना ही देश : मदन कश्यप, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2015, पृ. सं 98
18. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी : सं. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वि. सं.-2008, पृ. सं 28
19. युद्धरत आम आदमी अक्टूबर-2016, 'क्यों नहीं होता मलाल: जसिंता केरकेट्टा, पृ.14
20. समकालीन जनमत, फरवरी 2015 लेख-भूमि अधिग्रहण कानून में संशोधन सामंती दौर की पुनर्वापसी: जाहिदखान पृ.3-4
21. समकालीन जनमत, अगस्त 2017, लेख- अवैध खनन पर सर्वोच्च न्यायालय-जाहिद खान, पृ.सं.17
22. समकालीन जनमत, अगस्त 2017, लेख- अवैध खनन पर सर्वोच्च न्यायालय-जाहिद खान, पृ.सं.17
23. आदिवासी विमर्श : डॉरमेशचन्द मीणा, लेख-जरूरत है प्रोसपेरो-सिंझोम के अंत की-रामशरण जोशी, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्र.सं. 2013 पृ.सं.16
24. आदिवासी विमर्श : डॉरमेशचन्द मीणा,लेख-जरूरत है प्रोसपेरो-सिंझोम के अंत की-रामशरण जोशी, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्र.सं. 2013 पृ.सं.16
25. आदिवासी विमर्श : डॉरमेशचन्द मीणा, लेख-आदिवासी अस्मिता का सवाल-प्रो.वीरभारत तलवार, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्र.सं. 2013 पृ.सं.1
26. आदिवासी विमर्श : डॉरमेशचन्द मीणा , लेख- आदिवासी महिला की स्थिति और उनका पलायन-सुधील कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्र.सं. 2013, पृ 77
27. आदिवासी विमर्श: डॉरमेशचन्द मीणा, लेख- आदिवासी-नक्सली जीवन संघर्ष और सरकार: डॉ. एल.एल.योगी राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्र.सं. 2013 पृ.सं.107
28. आदिवासी विमर्श: डॉरमेशचन्द मीणा, लेख- आदिवासी-नक्सली जीवन संघर्ष और सरकार: डॉ. एल.एल.योगी राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्र.सं. 2013 पृ.सं.108
29. आदिवासी दस्तक : विचार परम्परा और साहित्य, डॉ. रमेशचन्द मीणा, अलख प्रकाशन जयपुर 2013 प्र.सं. पृ.सं.63
30. युद्धरत आम आदमी जनवरी- 2018, विकाल सिंह की कविता, पृ.सं. 37-38
31. कथाक्रम : अक्टूबर-दिसम्बर 2011 'हमें असम्य रहने दो : शशिभूषण मिश्र, पृष्ठ-195
32. समकालीन आदिवासी कविता : सं.हरिराम मीणा, आसाम से लौटकर हड़िया सोरेन-सुशील कुमार, अलख प्रकाशन जयपुर प्र.सं. 2013 पृ.सं.88-89
33. युद्धरत आम आदमी, जनवरी 2018 पृ.सं. 54 लेख-समकालीन हिन्दी कविता में अभिव्यक्त आदिवासी स्वर : रविन्द्र कुमार मीना
34. समकालीन आदिवासी कविता : सं.हरिराम मीणा, संताल परगना का दुःख : अशोक सिंह, अलख प्रकाशन जयपुर प्र.सं. 2013 पृ.सं.67
35. समकालीन आदिवासी कविता : सं.हरिराम मीणा, हे समय के पहरेदारों : ग्रेस कुजूर, पृ.सं. 25-26
36. आदिवासी विमर्श : स्वस्थ जनतांत्रिक मूल्यों की तलाश: सं. वीरेन्द्र सिंह यादव, डॉ.रावेन्द्र सिंह साहू, लेख- आदिवासी विमर्श : स्थानाएँ और प्रस्थापनाएँ : डॉ.रावेन्द्र सिंह साहू डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव पैसिफिक पब्लिकेशन, दिल्ली प्र.सं.2012 पृ.सं.73